पुनर्जन्म

(१)

धन तृष्णा का ईंधन है। ज्यों-ज्यों रुपया आता-जाता है, तृष्णा बढ़ती जाती है। सहारनपुर के लाला अयोध्यानाथ जब तक निर्धन थे, तब तक उन्हें रुपयों की लालसा न थी। परन्तु जब चार पैसे हो गये, तो दिन-रात उन्हें बढ़ाने की चिन्ता हुई। सोचते थे, कोई ऐसी युक्ति निकल आवे, जिससे कुछ ही दिनों में लाखों रुपये इकट्ठे हो जायँ। कभी वह रुपये-पैसे को हाथ का मैल समझते थे। उस समय वह मूर्ख थे। परन्तु अब पैसे पैसे के लिए उनके प्राण निकलते थे। अब उनकी आँखें खुल गई थीं। साधु-महंतों की सेवा के लिए कभी वह बड़ी श्रद्धा रखते थे। उस समय वह निर्धन मनुष्य थे। परन्तु अब इसे वह सबसे बड़ी भूल समझने लगे थे। बैंक में चार पैसे इकट्ठे हो गये थे। इतना ही नहीं, तृष्णा की धधकती हुई ज्वाला ने उनके शेष गुणों को भी उसी प्रकार भस्म कर दिया था, जिस प्रकार दावानल वन के साथ गाँव को भी जलाकर राख कर देती है। मगर उनका अंतःकरण सर्वथा नष्ट हो गया हो, यह बात न थी। कभी-कभी पुरानी प्रकृति का दौरा हो जाता था, जिस प्रकार युवावस्था के चेहरे में कभी-कभी बचपन का रूपरंग झलकने लगता है। परन्तु यह अवस्था चिरस्थायी नहीं रहती थी। नये स्वभाव के सामने पुराने विचार इस

प्रकार दब जाते थे, जिस प्रकार बुढ़ापा यौवन को पछाड़ देता है। लाला अयोध्यानाथ के द्वार पर कोई साधु-महंत आ जाता, तो उनका मुख फूल की तरह खिल जाता था। परन्तु आदर-सत्कार के समय वह श्रद्धा न रहती थी। चन्द्रमा को ग्रहण लग जाता था।

(२)

संध्या का समय था। लाला अयोध्यानाथ के द्वार पर एक साधु आकर रुका, और एक विशेष गौरव के साथ बोला—"क्यों बाबा रात काटने के लिए साधु को स्थान मिल जायगा ?"

साधु का मुख संतोष की मूर्ति था, और आँखें अमृत के कटोरे। लाला अयोध्यानाथ का हृदय भक्ति-भाव से भर गया। सादर झुककर बोले—"सिर आँखों पर !"

साधु ने मुस्किराकर कहा—"बेटा ! आजकल के समय में तुम्हारे जैसे भक्त पुरुष कहीं-कहीं विरले ही रह गये हैं। संसार से तो धर्म का भाव ही जैसे उठ गया है।"

अयोध्यानाथ का हृदय खिल गया। अपनी प्रशंसा साधु के मुख से सुनकर उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उन्हें स्वर्ग मिल गया हो। हँसी होठों तक आ गई, परन्तु उसे दबाकर बोले—"महाराज, यदि साधु-संतों की सेवा न की, तो इस मनुष्य-देह से लाभ ही क्या ?"

साधु अंदर पहुँचा। लाला अयोध्यानाथ ने आदर-सत्कार में कोई बात उठा न रखी। बासमती के चावल बनाये, मीठे दही के बड़े। दाल और भाजियों में घी इस तरह तैरता था, जिस तरह नदी-नालों में जल। लाला अयोध्यानाथ साधुओं को ऐसे अच्छे और पुष्टिकारक पदार्थ खिलाने के पक्षपाती न थे। परन्तु इस साधु की बातों में न-जाने कैसी शक्ति थी कि उनके वर्षों के विचार क्षण-भर में बदल गये, जिस प्रकार गरमी की सूखी हुई पृथ्वी एक ही दिन की वर्षा से हरी-भरी हो जाती है। इस भक्ति-भाव से साधु का हृदय प्रसन्न हो गया। रात को देर तक बातें होती रहीं। ज्ञान और भक्ति के दफ़्तर खुल गये। अन्त में अयोध्यानाथ ने पूछा "महाराज, आप साधु कैसे हुए ?"

साधु ने हँसकर उत्तर दिया—"बेटा, बुढापा आ गया है, 'अब क्या सारी आयु गृहस्थी ही में फँसा रहूँ ? कुछ हरिभजन भी तो करना चाहिए। तुम्हारी कृपा से बहुत रुपया कमाया। पाँच पुत्र हैं, एक कन्या। अब रुपया पैसा सब उन्हें बाँट दिया है, और तीर्थ-यात्रा को जा रहा हूँ।"

अयोध्यानाथ ने साधु के मुख की ओर देखा, और पूछा—"तो आपने अपना सब कुछ बच्चों को दे दिया, या अपने पास भी कुछ रखा है ?"

साधु ने उत्तर दिया:—"मेरे हाथ में जो लोहे की लाठी देखते हो, यह अंदर से खोखली है। इसमें मैंने एक सौ मुहरें डाल रखी हैं। यात्रा में कभी-कभी धन की आवश्यकता पड जाती है।

यह कहते-कहते साधु को नींद आ गई। परन्तु अयोध्यानाथ की आँखों में नींद न थी। वह बार-बार सतृष्ण नेत्रों से लाठी की ओर देखते, और मन ही-मन कुछ सोचते थे। लोभ धर्म के पीछे छिपा हुआ था। कुछ समय तक यह संग्राम होता रहा। अंत में लोभ ने धर्म को पछाड़ दिया। अयोध्यानाथ ने लाठी उठा ली। परन्तु हाथ-पैर काँप रहे थे। अंतःकरण ने फिर फड फड़ाना शुरू किया। परन्तु लोभ के दृढ़ हाथों ने उसका गला घोंट ही तो दिया। अयोध्यानाथ ने कमानी दबाई, लाठी खोलकर मुहरें निकालीं, और उनके स्थान में पैसे भर दिये। पाप का जादू चल गया।

(३)

दिन चढ़ा। साधु हरद्वार जाने को तैयार हुआ। अयोध्यानाथ का हृदय बैठता जाता था। उन्हें डर था कि कहीं साधु को संदेह न हो जाय। इस विचार से उनके चेहरे का रंग उड़ा जाता था। परन्तु साधु को इस घटना की कुछ भी ख़बर न थी। वह मुस्करा-मुस्कराकर बातें करता और रात के आदर-सत्कार के लिए बार-बार धन्यवाद देता था। चलते समय अयोध्यानाथ ने कहा—"महाराज, मेरे यहाँ संतान नहीं है। आप ईश्वर से प्रार्थना करें। हम पापी लोग हैं, हमारी प्रार्थना में असर नहीं है। आप महात्मा हैं, परमात्मा आपकी सुनेगा।"

साधु ने उत्तर दिया—"सुनेगा या नहीं, यह तो वही जाने। परन्तु मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि भगवान् तुम्हें संतान दे।"

यह कहकर साधु चला गया, अयोध्यानाथ के सिर से बोझ उतर गया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो साधु के जाने के साथ ही उनके हृदय से पत्थर हट गया। वह इस चोरी के फल से नहीं बच सकते थे, यह उनका मन और मस्तिष्क अनुभव कर रहा था। परन्तु वह इस चोरी के प्रकट होने से बहुत डरते थे। चोरी का प्रकट होना प्रत्यक्ष था, किन्तु उसका फल भविष्य के परदे में था। मनुष्य वर्तमान समय के सामने भविष्य की परवाह नहीं करता।

उधर साधु हरद्वार पहुँचा, तो हृदय प्रसन्न हो गया। यहाँ साधु-संतों को देखकर उसे ऐसी प्रसन्नता हुई, मानो स्वयं भगवान् के दर्शन हो गये हों। उसका मन ब्रह्मानन्द में लीन हो गया। एक हलवाई को बुलाकर बोला—"मैं एक महायज्ञ करना चाहता हूँ, जिसमें हरद्वार के समस्त साधुओं को भोजन कराया जायगा। उसमें सारा ख़र्च कितना बैठेगा?"

हलवाई ने अंदाजा लगाकर उत्तर दिया—"साढे सात सौ रुपये।"

"इसमें सब कुछ हो जायगा?"

"बहुत अच्छी तरह।"

साधु ने क्षण-भर सोचा, और फिर कहा—"तुम यह प्रबन्ध कर सकोगे?"

"कर सकेंगे।"

"तो सब प्रबन्ध तुम ही करो। जो ख़र्च होगा, मैं दूँगा।"

यह कहते-कहते उसने एक भाव-भरी दृष्टि से अपनी लाठी की ओर देखा।

हलवाई ने उत्तर दिया—"आप निश्चिन्त रहें, सब प्रबन्ध हो जायगा।"

दूसरे दिन यज्ञ हुआ। हरद्वार-भर में धूम मच गई। लोग देखते थे, और आनन्द से झूमते थे। कहते थे, यज्ञ बहुत देखे हैं, परन्तु इस उदारता और भक्ति भावना से रुपये पानी की तरह बहाते किसी को नहीं देखा। ऐसे धनाढ्यों की कमी नहीं, जिनके पास मुहरों की देगें हैं। वे मुकद्दमेबाजी में लाखों लुटा देते हैं, बेटे के ब्याह में लाखों उड़ा देते हैं; परन्तु धर्म की राह पर पैसा ख़र्च करते समय उनके दिल छोटे हो जाते हैं। यह मनुष्य है, जिसने अपना सच्चा धर्म समझा है, और धर्म के सामने पैसे का मुँह नहीं देखा। साधु का दिमाग़ आसमान पर पहुँच गया, और उसका हृदय आनन्द के हिलोरे लेने लगा। साधु प्रसन्न हो रहा था, परन्तु उसका भाग्य रो रहा था।

(४)

शाम हुई। साधु ने अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द किया, और लाठी की कमानी दबाई। उसके अन्दर पैसे देखकर उसका हृदय काँप गया! उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह कोई भयानक स्वप्न देख रहा है। उसे अपने नेत्रों पर विश्वास न होता था। वह चाहता था कि यह स्वप्न जितनी जल्दी हो सके, समाप्त हो जाय। परन्तु यह स्वप्न ऐसा न था, जिसके पश्चात् जागृति आती है। उसने पैसों को आँखें मल-मलकर देखा। उसे ख़याल था कि अब भी मेरी भूल दूर हो जायगी। परन्तु प्रत्येक पैसा वही पैसा था। साधु के मुख पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं। हलवाई का हिसाब थोड़ी देर बाद देना था। सोचा, अब क्या होगा! अपमान का चित्र आँखों के सामने खिंच गया। साधु काँपकर खड़ा हो गया। अपमान का विचार अपमान से अधिक भयानक है। साधु में उसके सहन करने की शक्ति न थी। उसने कुछ देर विचार किया, जिस प्रकार निराश मनुष्य समुद्र में कूदने से पहले विचार करता है, फिर दरवाज़ा बन्द कर लिया। साथ ही उसकी आशा के दरवाज़े भी बन्द हो गये। साधु ने चारपाई की पाँइती निकाली, और उसे छत से लटका दिया। मृत्यु दरवाज़े पर खड़ी थी। अंतःकरण ने उपदेश किया, दिमाग़ ने युक्तियाँ दीं। परन्तु निराशा ने सब ओर अँधेरा फैला दिया। साधु का मुख मृतक के समान सफ़ेद हो गया। तब उसने चारपाई पर खड़े होकर रस्सी का फंदा गले में डाला, और थरथराते हुए पाँवों की अंतिम चेष्टा से चारपाई को ठोकर मारकर गिरा दिया। मृत्यु अंदर आ गई।

कैसा आनंदमय प्रभात था, परन्तु किसे पता था कि उसकी शाम ऐसी दुःखमयी होगी। थोड़े समय के पश्चात् यह घटना बच्चे-बच्चे के मुँह पर थी।

(५)

साधु मर गया, परन्तु उसका आशीर्वाद ज़िन्दा था। साल के भीतर ही अयोध्यानाथ के घर पुत्र उत्पन्न हुआ। मरी हुई आशाओं में जान पड़ गई। अयोध्यानाथ ऐसे प्रसन्न थे, मानो सारे संसार का धन मिल गया हो। अँधेरे घर

में प्रकाश हो गया था। उनके पैर पृथ्वी पर न पड़ते थे। बालक का नामकरण-संस्कार बड़ी धूमधाम से किया गया। इस उत्सव के अवसर पर एक बड़ा भोज दिया गया। उस दिन अयोध्यानाथ ने सारी आयु की कृपणता की कोर-कसर निकाल दी; रुपये-पैसे पानी की तरह बहाये। बालक का नाम द्वारकानाथ रखा गया। ज्यों-ज्यों वह आयु में बढ़ता जाता था, अयोध्यानाथ की कामनाएँ पल्ला पसारती जाती थीं। द्वारकानाथ बहुत सुशील बालक था। उसकी बुद्धि देखकर आश्चर्य होता था। लोग कहते थे, यह कुल का नाम बढ़ावेगा। अयोध्यानाथ यह सुनते, तो फूले न समाते। उसकी शरारतों और चंचलताओं को देख-कर उनका प्यार बढ़ता जाता था। इसी प्रकार छः वर्ष बीत गये। द्वारकानाथ स्कूल में पढ़ने गया। वहाँ उसके गुणों का विकास होने लगा। सोना कुंदन बन गया। वह सदैव अपनी श्रेणी में प्रथम रहा करता था। अयोध्यानाथ यह देखते और परमात्मा को धन्यवाद देते थे।

परन्तु कभी-कभी जब उन्हें साधु के साथ अपना दुर्व्यवहार याद आ जाता, तो उनके कलेजे में भाले चुभ जाते थे, और उनकी आत्मा पर एक अज्ञात-सा भय छा जाता था। उन्हें अब रह-रहकर अपने ऊपर क्रोध आता था। वह बहुधा मन ही मन दुखी होते थे कि मेरी बुद्धि पर कैसा परदा पड़ गया, जो ऐसी मूर्खता कर बैठा। वह गुज़रा हुआ समय उनके हाथ न आता था। उन्हों ने वह मुहरें एक रूमाल में बाँधकर एक संदूक में रख दीं, और निश्चय कर लिया कि उस साधु को दे देंगे। उसकी खोज में उन्होंने कई मनुष्य भेजे, परन्तु उनकी साधु तक पहुँच न हो सकी। यहाँ तक कि यह घटना अयोध्या-नाथ को भूल गई। परन्तु वह मुहरों की पोटली उसी तरह पड़ी रही।

(६)

द्वारकानाथ अठारह वर्ष का हो गया।

वसंत के दिन थे। खेतों में सरसों फूली हुई थी। अयोध्यानाथ द्वारका-नाथ और धर्मपत्नी के साथ हरद्वार को चले। वहाँ पहुँचकर अयोध्यानाथ को एक नया रहस्य मालूम हुआ। द्वारकानाथ की प्रकृति साधुओं की-सी थी। वह दिन-रात साधुओं के डेरों में घूमता रहता था। अयोध्यानाथ यह देखकर कुढ़ते

थे; परन्तु कुछ कर न सकते थे। द्वारकानाथ का मुख देखकर उनका क्रोध तत्काल उतर जाता था। वह बहुतेरा सोचते थे, परन्तु उन्हें द्वारकानाथ की इस प्रकृति का कारण समझ नहीं पड़ता था।

सायंकाल था। द्वारकानाथ अपने डेरे को लौट रहा था कि रास्ते में एक आदमी रोता हुआ मिला। द्वारकानाथ ने आश्चर्य से पूछा—"क्यों, रोते क्यों हो?"

"क्या कहूँ, कहते लज्जा आती है।"

"फिर भी।"

'व्यापार में घाटा पड़ गया है।"

"यह तो एक मामूली बात है।"

उसने विचित्र भाव से द्वारकानाथ की ओर देखकर कहा—"मुझे ऋण चुकाना है। वह मुझ पर नालिश करनेवाले हैं।" द्वारकानाथ कुछ देर चुप रहा। यह मौन उस अभागे के लिए आशा बन गया। बहते हुए आँसू रुक गये। द्वारकानाथ ने पूछा—"कितने रुपयों से तुम्हारा काम चल सकेगा?"

जब मनुष्य निराश हो जाता है, तो उसे पग-पग पर आशा दिखाई देती है। उस आदमी को भी साहस हो गया। उसने हिसाब लगाकर उत्तर दिया—"मेरे सिर चौदह सौ रुपये के लगभग ऋण चढ़ा हुआ है?"

"चौदह सौ रुपये!"

"हाँ, चौदह सौ रुपये।"

द्वारकानाथ कुछ देर चुप रहा। फिर सहसा उसने कहा—"चिन्ता न करो, प्रबंध हो जायगा।"

"आगंतुक ने पूछा—"तो कब तक?"

"आज ही रात तक। तुम्हारी दूकान कहाँ है?"

"चौक में जो हलवाई की बड़ी दूकान है, वह मेरी ही है।"

द्वारकानाथ उड़ता हुआ घर पहुँचा। उस समय उसके हृदय में हलचल मची हुई थी। उसका चित्त व्याकुल था। वह चाहता था कि जितनी जल्दी हो सके, हलवाई का संकट दूर कर दे। उसे किसी दिव्य शक्ति ने विश्वास दिला दिया था कि इसकी सहायता करना मेरा ही धर्म है। वह एक विशेष भावुकता

के साथ घर गया। माता और पिता, दोनों कहीं बाहर थे। द्वारकानाथ का रास्ता साफ़ हो गया। उसने नौकर से चाबियाँ लीं, और कमरे के अंदर गया। परन्तु संदूक़ में ताला लगा था। द्वारकानाथ पर भूत-सा सवार था। उसने पत्थर लेकर दरवाज़ा तोड़ डाला और फिर संदूक टटोलने लगा। निराशा ने पैर फैलाये, मगर आशा ने ढाढ़स बँधा दी। एकाएक आशा की चमक दिखाई दी, द्वारकानाथ के हाथ में एक रूमाल आ गया। उसने काँपते हुए हाथों से उसे जल्दी से खोला। हृदय कमल की तरह खिल गया, यह वही मुहरें थीं। गिनी, पूरी सौ निकलीं। हृदय प्रफुल्लित हो गया। वह उन्हें जेब में रखकर इस तरह भागा, जैसे कोई पुलिस का कर्मचारी पीछे लगा हो। द्वारकानाथ ने भलाई के लिए बुराई की। परन्तु ऐसी बुराई करनेवालों की संख्या कितनी है ?

रात का समय था। द्वारकानाथ अपने डेरे को वापस आया। परन्तु अभी आकर बैठा ही था कि पेट में पीड़ा होने लगी। द्वारकानाथ साहसी नवयुवक था। बड़े से बड़े कष्ट में भी वह हिम्मत न हारता था। परन्तु यह पीड़ा न जाने किस प्रकार की थी कि उसके मुख से चीख़ें निकल गईं। अयोध्यानाथ को ऐसा जान पड़ा, जैसे कोई विपति पड़नेवाली है। यह आनेवाली विपति का पूर्व रूप था। वह दौड़े हुए डाक्टर के पास गये, परन्तु अभी वापस न आये थे कि द्वारकानाथ ने प्राण त्याग दिये। अयोध्यानाथ ने यह सुना, तो पछाड़ खाकर गिर पड़े, और कई दिन तक बीमार रहे। परन्तु द्वारकानाथ को क्या हो गया, यह आज तक उनकी समझ में न आया। एक दिन संदूक में किसी चीज़ के लिए हाथ डाला, तो मुहरोंवाला रूमाल न था। एकाएक उनको कई वर्षों की भूली हुई घटना याद आ गई। परन्तु उन मुहरों का चला जाना और द्वारकानाथ का अचानक मरना, इन दोनों घटनाओं में क्या संबंध है, इसे वह कभी न समझ सके।